



सार-संक्षेप

राजस्थानी लोक संगीत के सुषिर वाद्य यंत्र

मोहन लाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक समस्त संगीत में वाद्यों की सत्ता एवं महत्ता सर्वमान्य रही है। वाद्यों में भी सुषिर वाद्यों का विशेष महत्त्व रहा है। प्राचीनकाल में सुषिर वाद्यों का एक गौरवपूर्ण इतिहास था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ सुषिर वाद्यों का तकनीकी विकास भी होता गया। वर्तमान में प्रचलित समस्त सुषिर वाद्य आदि, वंशी तकनीक का ही विकसित स्वरूप है। राजस्थानी लोक संगीत के समान ही गायक जाति के लोक वाद्य भी राजस्थानी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रमुख अंग रहे हैं। गायन वादन की जातिवंश परम्परा एवं कलात्मक उत्कृष्टता ने राजस्थानी संगीत को इतना सम्पन्न बनाया है कि लोक गीत, उनकी गायन शैली, साथ बजाये जाने वाले विशिष्ट समन्वयात्मक वाद्य आदि राजस्थान की लोक गायक जातियों को विरासत में ही प्राप्त हुए रहते हैं। राजस्थान का संगीत हृदयग्राही है और जन जीवन का ही एक भाग है। दैनिक क्रिया-कलापों से लेकर विशेष आयोजनों तक लोक संगीत की एक अनवरत, निरन्तर परम्परा है जो पीढ़ी से पीढ़ी को प्राप्त होती चलती है। इस प्रकार आज भी लोक संगीत में सुषिर वाद्यों ने अपना महत्त्व और अस्तित्व बनाये रखा है। लोक संगीत की मधुरता तथा सफलता बहुत सीमा तक सुषिर वाद्यों पर निर्भर करती है। लोक कलाकारों की आजीविका और जीवनयापन लोक संगीत और लोक वाद्यों पर ही निर्भर होता है। जैसे विवाह, त्योहारों और विभिन्न पारिवारिक संयोजनों पर शहनाई-नगाड़े, मशक, नड, मयंक, अलगोज़ा, बाँकिया, मोरचंग इत्यादि लोक वाद्य हैं जो राजस्थानी संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। अतः इस शोध पत्र का उद्देश्य ऐसे ही कुछ राजस्थानी लोक संगीत के प्रचलित और अप्रचलित सुषिर वाद्यों का विकास, सृजन, अर्थ, सुषिर वाद्यों का वर्गीकरण तथा कुछ राजस्थानी सुषिर वाद्यों का परिचय और विलुप्त होते हुए वाद्यों की जानकारी देना है। अतः मेरे व्यक्तिगत अनुभव, अध्ययन और शैक्षणिक अनुभव तथा लोक संगीत के कलाकारों से तथा इंटरनेट के माध्यम से जो व्यवहारिक जानकारी प्राप्त हुई वो इस शोध-पत्र में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मुख्य शब्द : सुषिर वाद्य, लोक संगीत, राजस्थान, वाद्य-वर्गीकरण, जातिवंश परंपरा

शोध-पत्र

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक समस्त संगीत में वाद्यों की सत्ता एवं महत्ता सर्वमान्य रही है। वाद्यों में भी सुषिर वाद्यों का विशेष महत्त्व रहा है। प्राचीनकाल में सुषिर वाद्यों का एक गौरवपूर्ण इतिहास था। वंशी भगवान् श्रीकृष्ण का परमप्रिय वाद्य तो था ही, इसके साथ ही इसने समस्त भारतीय जन-मानस को अपनी मधुरता एवं सरसता से अनुप्राणित किया। वैदिक काल में वंशी को ही आधार स्वर बनाकर वीणा आदि वाद्यों के स्वरों को मिलाया जाता था। उस काल में गान्धर्व और वैदिक स्वर-संज्ञाओं में अन्तर होने के कारण इन दोनों के स्वरों के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'नारदीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ में वंशी वाद्य का ही आश्रय लिया गया। तब गायन की संगति में वीणा और वंशी का उपयोग किया जाता था। नाट्यशास्त्र में गान्धर्व का उत्पत्ति स्थान गान, वीणा और वंशी बतलाया गया। मध्यकाल में सुषिर वाद्यों का वर्चस्व शनैः-शनैः घटता रहा। संगीत रत्नाकर में वंशी वाद्य के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख हुआ है तथा वंशी पर बजाये जाने वाले रागों का स्वतंत्र निरूपण हुआ है, किन्तु उसके परवर्ती ग्रन्थकारों ने इस वाद्य के विषय में संक्षिप्त चर्चा करके संतोष कर लिया। फिर भी सुषिर वाद्यों ने अपने अस्तित्व को मिटने नहीं दिया। संगीत ग्रंथों के साथ-साथ भक्तिपरक साहित्य में यत्र-तत्र इन वाद्यों का उल्लेख होता रहा। वीणा का स्थान सितार ने ग्रहण कर लिया एवं वंशी, शहनाई आदि सुषिर वाद्य शास्त्रीय संगीत के रंगमंच से गायब होते चले गए और वे नौबतखाना में जाकर

सिमट गए। किन्तु लोक संगीत में तो इन वाद्यों ने अपना महत्त्व जरा भी कम नहीं होने दिया। आधुनिक काल में सुषिर वाद्यों ने पुनः अपनी जड़ें काफी मजबूत बना ली हैं। अब लोकसंगीत की सुमधुरता तथा सफलता बहुत सीमा तक सुषिर वाद्यों पर निर्भर करती है। शास्त्रीय संगीत के रंगमंच पर वंशी, शहनाई, सुन्दरी आदि कुछ सुषिर वाद्यों ने तो अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उन्होंने अपनी सीमा सुदूर देशों तक फैला ली है। लेकिन फिर भी कुछ लोक संगीत के सुषिर वाद्य ऐसे भी हैं जो लुप्त होने की कगार पर हैं।

वाद्य का अर्थ

“‘वाद्य’ शब्द की उत्पत्ति ‘वद्’ धातु से हुई मानी गई है, जिसका अर्थ है—सुस्पष्ट बोलना। तदनुसार, सुस्पष्ट रूप से ध्वनि करने वाला ‘वाद्य’ की संज्ञा प्राप्त करता है। अतः वाद्य से तात्पर्य है—‘ऐसा यन्त्र जिससे ध्वनि उत्पन्न हो सके।’ ”[1]

अतः संगीतात्मक ध्वनि तथा गति को प्रकट करने के उपकरण को ‘वाद्य’ कहा जाता है।

अर्थात् वाद्य जब कलाकार के सहयोग से नियमबद्ध सांगीतिक प्रणाली तथा लय एवं ताल के संयुक्त समावेश से मुखरित होते हैं, तब वह सच्चे अर्थों में संगीत वाद्य बन जाते हैं और वाद्य अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है।

संगीत तथा वाद्य का परस्पर संबंध

संगीत और वाद्य का परस्पर वही संबंध है, जो स्वर और ताल का है। 'संगीत' पद में गीत के साथ सम्मिलित रूप में वाद्य की स्थापना और संगीत के मूल 'नाद' में स्वर के साथ ताल एकीकरण, संगीत में वाद्य के महत्त्व को स्वतः ही सुप्रतिष्ठित करते हैं।

संगीत में वाद्य यंत्रों का अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगीत और वाद्य का परस्पर संबंध शाश्वत है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे में रसनिष्पत्ति असंभव है। संगीत अन्तर्मन की नैसर्गिक भावना है और वाद्ययंत्र उसके बाह्य प्रकटीकरण का सुंदर माध्यम है। वाद्यों द्वारा स्वर तथा लयबद्ध रूप में उत्पन्न संगीत 'वादन' कहलाता है। आचार्य शारंगदेव वादन का महत्त्व बताते हुए कहते हैं।

“नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं गीतानुवृत्ति च।”[2]

इस श्लोक में वादन को गायन के अधीन तथा नृत्य को वादन के अधीन बताया गया है। 'नृत्य वाद्यानुगं' संगीत में वाद्य के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

सुषिर वाद्य

ऐसे समस्त वाद्य जो वायु के दबाव से या मुँह द्वारा फूँककर ही जाये जाते हैं, 'सुषिर वाद्य' कहलाते हैं, अर्थात् "मुख वायु द्वारा बजाए जाने वाले वाद्य 'सुषिर वाद्य' कहलाते हैं। 'सुषि' का अर्थ है 'छिद्र'।"[3]

इन वाद्यों में वायु निकालने व रोकने के लिए स्वर रन्ध्र बने होते हैं, जिनसे स्वरों का खिंचाव, उतार-चढ़ाव नियन्त्रित किया जाता है। सुषिर वाद्यों का वादन कंठ गायन के समान प्राण वायु से होता है। लगभग समान ध्वनि एवं वायु तरंगों के उत्पन्न होने के कारण ये मानव कंठ से अत्यधिक साम्य रखते हैं। सुषिर वाद्य लकड़ी, सींग, पीपल या अन्य किसी भी धातु से बनाये जा सकते हैं। इनके लिए सामान्य वृक्ष अथवा साधारण लकड़ी उपयुक्त नहीं होती है वरन् इन वाद्यों के लिए नैसर्गिक रूप से स्वतः ही उगे हुए विशेष प्रकार के बाँस की आवश्यकता होती है। सुषिर वाद्यों का शास्त्रीय संगीत में विशिष्ट स्थान होने के साथ-साथ सुगम संगीत तथा लोक संगीत में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सुषिर वाद्यों का सृजन

परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है। मानव सभ्यता इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। आदिकाल से लेकर आज तक मानव सभ्यता ने जैसे-जैसे विकास किया वैसे-वैसे ही मानव जाति को प्रकृति ने आकर्षित किया है। मानव को जीवन जीने के साथ-साथ मनोरंजन की भी आवश्यकता रही होगी, इसी कारण मानव ने विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ अपने मुँह (कंठ) से निकालने तथा वृक्ष के पत्तों, बाँस जैसी लकड़ी तथा जानवरों के सींग आदि से वाद्य यंत्र बनाकर सुषिर वाद्यों का निर्माण किया।

“सुषिर वाद्यों का जनक मानव का स्वयं का कंठ है। आदि सभ्यता काल में जब आदि मानव ने भाषा का प्रयोग नहीं सीखा था, तब विभिन्न

संकेत, अस्फुट स्वर, विशेष कंठ ध्वनियाँ ही उसकी भाषा हुआ करते थे। मुख एवं होठों द्वारा विभिन्न प्रकार से निष्पादित ध्वनि अर्थात् 'सीटी' भी इस विचित्र भाषा में सम्मिलित थी। वस्तुतः यह 'सीटी' की ध्वनि ही सुषिर वाद्यों का मूल है। कदाचित् वृक्ष के पत्तों अथवा तृण को मोड़ कर मुख में लगाकर ध्वनि निकालने का भी प्रयत्न किया जाता था। महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित हरिवंश पुराण में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पत्तों का बाजा बजाये जाने का उल्लेख मिलता है। यह आदिम 'पर्णवाद्य' आदि काल से आज तक लोकानुरंजन का माध्यम है। प्रकृति ने सुषिर वाद्यों के सृजन में मूल भूमिका निभाई। बाँस का अंदरूनी भाग रिक्त होता है। इस प्रकार की रचनायुक्त वस्तु में वायु प्रवेश सहज होता है और वायु प्रवेश के कारण ध्वनि भी उत्पन्न होती है। यदा-कदा किसी भ्रमरादि द्वारा छिद्र बना लेने पर यह ध्वनि और स्पष्ट निकलती है। वायु वेग के कारण वायु प्रवेश होने से ध्वनि उत्पन्न करते बाँस को देखकर आदि मानव के मन में निश्चय ही सुषिर वाद्य की कल्पना ने जन्म लिया होगा। यह प्रमाणित तथ्य है कि वंशी निर्मित बाँसुरी अथवा वंशी आदि मानव द्वारा खोजा गया प्रथम सुषिर वाद्य था। विकास के प्रथम चरण में ही मानव ने वंश के साथ-साथ पशुओं के श्रृंग से भी वायुपूरित कर ध्वनि उत्पन्न करना सीख लिया। इसी प्रकार की बनावट की अन्य वस्तुओं का भी प्रयोग होने लगा। पाषाण युग में हड्डी निर्मित वंशी का विकास हुआ, जिसमें कई स्वररंध्रों को भी स्थापित किया गया, जिससे उस पर कुछ निश्चित स्वर स्थानों का वादन किया जा सके।

इस प्रकार सर्वप्रथम मानव ने प्रकृति के वायु पूरक सिद्धान्त पर प्राकृतिक रूप से उपलब्ध साधनों से सुषिर वाद्यों की रचना की। कालान्तर में इसके लिए मिट्टी का उपयोग भी किया गया। मोहनजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त प्रागैतिहासिक कालीन (लगभग 3250-2750 ई.पू.) मिट्टी की बनी हुई सीटी इसका प्रमाण है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ सुषिर वाद्यों का तकनीकी विकास भी होता गया। वर्तमान में प्रचलित समस्त सुषिर वाद्य आदि मानव की वंशी तकनीक का ही विकसित स्वरूप है। आदि मानव की वंशी अपेक्षाकृत कम सुरीली और कम मधुर ध्वनि युक्त थी; किन्तु आज के सुषिर वाद्य अनेक परिवर्तनों को प्राप्त कर स्वर स्थान की असीमित क्षमता रखते हैं।"[4]

राजस्थानी लोक संगीत परम्परा एवं लोक वाद्य

राजस्थान का लोक संगीत राजस्थानी संस्कृति की आत्मा है और लोकवाद्य राजस्थानी लोक संगीत का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रकृति ने राजस्थान को शुष्क मरूस्थल तो दिया पर प्रतिदान में स्वरगंगा प्रवाहित कर दी। राजस्थान में लोक संगीत परम्परा से न जाने कब से अपना अस्तित्व लिए चली आ रही है। यह परम्परा राजस्थान के लोक जीवन की सहचरी है और जन-जन के अन्तर्मन का सहज भाव है।

राजस्थानी संगीत में लोक और शास्त्रीयता का अद्भुत सम्मिश्रण है। लोक संगीत की सरस धुनें पारम्परिक हैं; किन्तु उनके स्वर संयोजन और गायन शैली शास्त्रीय स्तर की है। वाद्यों की सरचना और स्वरूप ठेठ

ग्रामीण स्तर का है; किन्तु उनका संगीत कलात्मक श्रेष्ठता की चरम सीमा है। इस द्विविध संयोग ने राजस्थानी लोक संगीत को अत्यंत सम्पन्न किया है। प्रत्येक पर्व, त्यौहार, विवाह, जन्म, मुंडन आदि पारिवारिक संयोजनों पर गीत संगीत यहाँ की परम्परा है। हर्षोल्लास के अवसरों के अतिरिक्त मृत्यु आदि के शोक अवसरों पर भी गीत गाने की विचित्र परम्परा राजस्थान में है। युद्ध प्रयाण एवं रण कौशल प्रसंग के वीर रस प्रधान गीत राजस्थानी लोक संगीत के ओजपूर्ण पक्ष के परिचायक है। लोक गीतों के लोक वाद्यों, लोक नृत्यों की सरस विविधता बरबस मन मोह लेती है।

राजस्थानी लोक संगीत के समान ही गायक जाति के लोक वाद्य भी राजस्थानी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रमुख अंग रहे हैं। गायन वादन की जातिवंश परम्परा एवं कलात्मक उत्कृष्टता ने राजस्थानी संगीत को इतना सम्पन्न बनाया है कि लोक गीत, उनकी गायन शैली, साथ बजाये जाने वाले विशिष्ट समन्वयात्मक वाद्य आदि राजस्थान की लोक गायक जातियों को विरासत में ही प्राप्त हुए रहते हैं। राजस्थान का संगीत हृदयग्राही है और जन जीवन का ही एक भाग है। दैनिक क्रिया कलापों से लेकर विशेष आयोजनों तक लोक संगीत की एक अनवरत, निरन्तर परम्परा है जो पीढ़ी से पीढ़ी को प्राप्त होती चलती है।

“मरुप्रदेश कहलाने वाले रंगीले-राजस्थान का सांस्कृतिक वैभव अद्वितीय है। संगीत की दृष्टि से यहाँ की कला परम्परा अत्यधिक समृद्ध रही है। यहाँ के राजा-महाराजाओं ने संगीतज्ञों और सिद्धान्तों को न केवल संरक्षण प्रदान किया वरन् भरपुर सम्मान भी दिया। फलस्वरूप अनेक संगीतज्ञ और विद्वान यहाँ पर आकर बसे और संगीत परम्परा को ऊँचाईयों तक पहुँचने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

भारतीय संगीत विद्वानों ने गायन, वादन और नृत्य तीनों के समावेश को ‘संगीत’ माना है। जहाँ ‘गीत’ मानव की भावना को व्यक्त करता है वहाँ ‘वादन’ गीत का सहायक होता है और ‘नृत्य’ उस भावना को मूर्त रूप देता है। इसीलिए गीत, वाद्य और नृत्य मिलकर ही संगीत कहलाते हैं।”[5]

वाद्य परम्परा भी गान-परम्परा की ही भाँति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वाद्यों का निरन्तर विकास होते जाने से उनकी परम्परा का भी विकास होता गया। नए-नए वाद्य निर्मित होते गये हैं और कुछ पुराने वाद्य प्रयोग में शिथिल भी हुए हैं। परन्तु आज हम देखते हैं कि सभी की अपनी अलग-अलग परम्परा रही है, जिसको कलाकारों ने अपनी मेहनत से जीवन्त बनाये रखा है।

राजस्थान में लोक संगीत, लोक नृत्य एवं लोक नाट्य का प्रचलन सम्भवतः सैंकड़ों वर्षों से है। बिना वाद्य संगीत सूना है। प्राचीन काल से ही वाद्य यंत्रों का संबंध देवी-देवताओं के साथ स्थापित किया जाता रहा है, जैसे—श्रीकृष्ण के साथ बाँसुरी, माता सरस्वती के साथ वीणा, शिव के साथ डमरू, नारद के साथ एकतारा आदि।

प्राचीन ग्रंथों में वाद्य वर्गीकरण

संगीत के इतिहास में भारतीय आचार्यों ने वाद्यों का वर्गीकरण वैज्ञानिक आधार पर व्यवस्थित रूप में किया है। वाद्यों के चार विभाजन है—तंत्र वाद्य, अवनद्ध वाद्य, सुषिर वाद्य तथा घन वाद्य।

सर्व प्रथम 7वीं शताब्दी में भरतमुनि के—नाट्यशास्त्र’ में संगीत वाद्यों के वर्गीकरण का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे निम्नांकित श्लोकों में व्यक्त किया गया है—

“ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोर्धं लक्षणान्वितम् ।। 1 ।।
ततं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पोष्करम् ।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते ।। 2 ।।

(ना. शा.- 28 वां अध्याय)

भरतमुनि ने स्वरूप के आधार पर वाद्यों के चार वर्ग निर्धारित किये हैं—

1. तत वाद्य अर्थात् तंत्र वाद्य
2. अवनद्ध वाद्य अर्थात् चर्माबद्ध वाद्य
3. घन वाद्य अर्थात् तालादि आघात वाद्य
4. सुषिर वाद्य अर्थात् वायु वाद्य।”[6]

राजस्थान के लोक सुषिर वाद्य

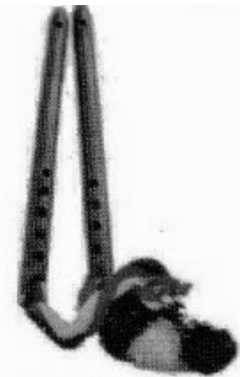
राजस्थान के लोक सुषिर वाद्यों को निम्न श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रथम वर्ग में वे वाद्य हैं, जो मुख से फूँकने पर मात्र वायु कम्पन से ध्वनित होते हैं।
2. द्वितीय वर्ग में वे वाद्य हैं, जिनमें कोई पत्ती अथवा चिक्रिका आदि होती है। इनमें फूँकने पर वायु प्रथम इनसे टकराकर प्रति-तरंगित होकर आगे जाती है।
3. तृतीय वर्ग में वे वाद्य आते हैं, जो तिरछा पकड़कर बजाये जाते हैं।

अतः लोक सुषिर वाद्यों के इन वर्गों के आधार पर राजस्थान के प्रमुख लोक सुषिर वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है—

1. अलगोज़ा

“अलगोज़ा राजस्थान का राज्य वाद्य है। यह बाँसुरी की तरह होता है। यह बाँस, पीतल और अन्य किसी भी धातु से बनाया जा सकता है। अलगोज़ा में स्वरों के लिए छः (6) छिद्र होते हैं, जिनकी दूरी स्वरों की शुद्धता के लिए निश्चित होती है। वादक दो अलगोज़े अपने मुँह में रखकर एक साथ बजाता है, एक अलगोज़े पर स्वर कायम रखते हैं और दूसरे पर स्वर बजाये जाते हैं।



जयपुर के पदमपुरा गांव के प्रसिद्ध कलाकार “रामनाथ चौधरी” नाक से अलगोज़ा बजाते हैं।[7] अलगोज़ा जैसलमेर, जोधपुर, बाड़मेर, बीकानेर, जयपुर, सवाई माधोपुर एवं टोंक आदि क्षेत्रों में मुख्य रूप से बजाया जाता है। अलगोज़ा को वीर तेजाजी की जीवन गाथा, डिग्गीपुरी का राजा, ढोला मारू नृत्य और चक्का भवाई नृत्य में भी बजाया जाता है। इसका प्रयोग भील और कालबेलिया जातियां अधिक करती हैं। इसे चरवाहों तथा राणका फकीरों का वाद्य भी कहा जाता है।

विशेष - अलगोज़ा वादन से 1982 के दिल्ली एशियाड का शुभारंभ धोधे खाँ प्रसिद्ध अलगोज़ा वादक द्वारा हुआ था।

2. सुरणई/सुरनाई



“सुरीली ध्वनि वाला यह वाद्य लंगा व मांगणियार की एक बाँसुरी है। यह वाद्य एक सिरे से पतला व आगे से फाबेदार (कीपनुमा) होता है। इसके अनेक रूप राजस्थान में मिलते हैं। राजस्थान के आदिवासी क्षेत्रों में ‘लक्का’ व अन्य क्षेत्रों में ‘नफीरी’ व टोटो भी होते हैं। इस पर खजूर या सरकंडे की पत्ती की रीढ़ लगाई जाती है।” यह वाद्य यंत्र वर्तमान में विलुप्त हो चुका है।

3. पूंगी या बीन

यह सुषिर वाद्य विशेष प्रकार के तूँबे से बनाया जाता है। इसका मध्य भाग लोकी से निर्मित होता है। लोकी के ऊपर वाले भाग में एक नलिका लगी होती है, जिसे मुख में रखकर वायुपूरित करने से ध्वनि का निष्पादन होता है। “तूँबे का ऊपरी हिस्सा लम्बा पतला और नीचे का हिस्सा गोल होता है। तूँबे के निचले गोल हिस्से में छिद्रकर समान आकार की दो पतली नलियाँ लगाई जाती हैं। प्रत्येक में नरसल की एक पत्ती लगी होती है। इन नलियों में स्वरों के छेद होते हैं। अलगोज़े के समान ही एक नली में स्वर कायम किया जाता है और दूसरी से स्वर निकाले जाते हैं। कुछ बीन एक नली की भी होती है। कालबेलियों और आदिवासी भील जातियों का यह प्रसिद्ध वाद्य है।”[8]



4. सतारा या पावा

यह वाद्य राजस्थान के रेगिस्तान वाले भाग में प्रचलित है जो जैसलमेर के भाटों तथा चरवाहा जातियों द्वारा स्वतंत्र रूप से बजाने वाले सुषिर वाद्यों की श्रेणी में आता है।

“यह एक लम्बी ऊर्ध्व बाँसुरी है जो लंगा द्वारा बजाई जाती है। इसमें दो बाँसुरियों को भी एक साथ फूँक द्वारा बजाया जाता है। एक बाँसुरी केवल श्रुति के लिए तथा दूसरी को स्वरात्मक रचना के



लिए काम में लिया जाता है। इसे ऊब सूखी लकड़ी में छेद करके बनाया जाता है। दोनों बाँसुरियाँ एक ही लम्बाई की होने पर ‘पावा जोड़ी’ एक लंबी और एक छोटी होने पर ‘डोढ़ा जोड़ा’ एवं ‘अलगोज़ा’ नाम से भी जाना जाता है। यह पूर्ण संगीत वाद्य है तथा मुख्य रूप से चरवाहों द्वारा इसका वादन होता है। यह वाद्य मुख्यतया जोधपुर तथा बाड़मेर में बजाया जाता है।”[9] राजस्थान के जैसलमेर क्षेत्र के ‘जाट’ नामक जाति द्वारा तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों के ‘गड़रिया’ नामक जाति द्वारा भी यह वाद्य विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होता है।

5. पैली

यह एक बाँसुरी है जो अलगोज़ा का एक भाग है। इसमें पांच छेद होते हैं और यह सीधी बाँसुरी की तरह बजाई जाती है—गीत के साथ संगति करने के लिए इसका प्रयोग होता है। यह बाँस की बनी होती है। अलवर, राजस्थान के मेओ जाति में इसका अधिक प्रचार है।”[10]

6. नड़

यह भी पश्चिमी राजस्थान का एक बाँसुरी जैसा सुषिर वाद्य है। यह कैर व कगोर की लकड़ी से बनाया जाता है। इसमें चार छेद होते हैं तथा इसे मुँह के किनारों से बजाया जाता है। दस्यु करणा भील व माले खाँ प्रख्यात नड़ वादक थे।” माता या भैरव का गुण-गान करने के लिए राजस्थान के भोपे लोग मशक की तरह के जिस वाद्य को फूँक द्वारा बजाते हैं उसे नड़ कहते हैं। उत्तर भारत में इसे भोपे के ‘बीन’ पुकारा जाता है।”[11]



7. बाँकिया

राजस्थान प्रदेश में इस वाद्य के वादन का प्रचलन है। शादी-विवाह के अवसर पर इसका वादन होता है। यह सरगड़ों जनजाति का खानदानी वाद्य है। यह वाद्य पीतल-धातु से निर्मित दो खण्डों में संयुक्त होता है।



यह अंग्रेजी के दो 'यू' अक्षर के आकार में गुंथा हुआ होता है। इसका एक भाग बेलनाकार तथा दूसरा भाग क्रमशः शंकु के आकार में होता है। इस वाद्य का दूसरा छोर थाली के आकार में खुला हुआ होता है। मुख वाले छोर के ठीक मध्य में छोटा छिद्र बनाकर एक पतली एवं छोटी नलिका स्थापित कर दी जाती है, जिसे मुख के समीप रखकर फूँकने से ध्वनि-निनाद होता है। पीतल का बाँकिया बना वाद्य ढोल के साथ मांगलिक अवसरों पर बजाया जाता है। आकृति में यह बड़े बिगुल की तरह होता है। इसे तुरही का एक प्रकार माना जा सकता है। जोश, जुनून और जज्बे को उजागर करता बाँकिया वाद्य प्राचीन समय में युद्ध के समय प्रयोग में लाया जाता था। [12] वर्तमान में यह वाद्य विलुप्त हो चुका है।

8. करणा

“करणा 7-8 फीट लम्बा पीतल से बना बिगुलनुमा वाद्य यंत्र है। इसके पिछले भाग से होंठ लगाकर फूँक देने पर ध्वनि निकलती है। यह पुराने समय में युद्ध में विजय घोष करने के लिए प्रयुक्त होता था। कुछ मंदिरों में भी इसका वादन होता था। जोधपुर के मेहरान गढ़ के संग्रहालय में रखे करणा वाद्य को सबसे लंबा माना जाता है।” यह वाद्य भी वर्तमान में प्रयोग में नहीं आता।



9. मयंक

यह बकरे की संपूर्ण खाल से बना वाद्य है, जिसमें दो प्रकार के छेद होते हैं। एक छेद पर एक नली लगी होती है, वादक उसे मुँह में लेकर आवश्यकतानुसार हवा भरता है। दूसरे भाग पर 10-12 अंगुल लंबी लकड़ी की चपटी नली होती है। नली के ऊपरी भाग पर 6 तथा नीचे एक छेद होता है। बगल में लेकर धीरे-धीरे दबाने से इसका वादन होता है। जोगी जाति के लोग इस पर भजन व कथा गाते हैं। [13]

10. मोरचंग

मोरचंग/मुरचंग लंगा गायक समुदाय का पारंपरिक वाद्य यंत्र है। संगीत नामक ग्रंथ में इसे मुखचंग बताया गया है। मोरचंग लोहे का एक यंत्र

है जो काफी छोटा होता है तथा कैंची जैसा दिखता है। इस यंत्र को दांतों के बीच में रखकर बाएँ हाथ से पकड़ा जाता है। दाएँ हाथ की उंगलियों से बजाते हुए



सांसों को अन्दर या बाहर खींचने पर इस यंत्र से धुनें निकलती है। इसलिए यह वाद्य यंत्र सुषिर वाद्य यंत्रों की श्रेणी में आता है। घरासिया, कालबेलियों द्वारा बांस का मुरचंग बजाया जाता है जिसे 'घुरालियो' कहते हैं। डीजे और आधुनिक वाद्यों को मात करता राजस्थान के मोरचंग का भी जवाब नहीं है, इससे मंत्रमुग्ध कर देने वाली धुनें निकलती है।

11. मशक

“यह सुषिर वाद्य बकरी की खाल से निर्मित होता है, जो थैलीनुमा होता है। इस थैली में वायुपूरण के लिए एक छोटी नलिका संलग्न होती है। ध्वनि-निस्तारण के लिए दो अन्य नलिकाएँ इस थैली में संयुक्त होती हैं, जिसमें छः (6) स्वर छिद्र होते हैं। इसमें नरसल की दो एकल पत्तियाँ लगी होती हैं, एक नलिका से आधार स्वर तथा दूसरी से धुन का निष्पादन होता है। वायु से भरी हुई थैली को वादन की भुजाओं के दबाव से संचालित किया जाता है। यह वाद्य राजस्थान प्रदेश के भैरोंजी के भोपाओं द्वारा गायन की संगति के लिए प्रयुक्त होता है। [14] वर्तमान में यह वाद्य विलुप्त होने की स्थिति में हैं। राजस्थान में कुछ ही जगहों पर बड़ी मुश्किल से मिलता है।



12. नागफणी

इस वाद्य का उपयोग प्रमुख रूप से राजस्थान में होता है। यह तांबा या पीतल धातु से निर्मित सर्पाकार सुषिर वाद्य है, जो दो खण्डों में संयुक्त रहता है। इस वाद्य का आकार लहराते हुए सर्प की तरह होता है। इसके बीच की नली अंग्रेजी के युगल आठ आकार की बन जाती है। इस वाद्य का अन्तिम छोर सर्प के मुख के आकार में खुला होता है तथा मुख का छिद्र बाँकिया वाद्य के ही समान होता है। इस वाद्य का ऊपरी सतह नक्काशीयुक्त होता है। वाद्य की कुल लम्बाई लगभग 151 सेंटीमीटर होती है। यह साधुओं का धार्मिक वाद्य है। यह वाद्य वर्तमान में विलुप्त हो चुका है। यह वाद्य केवल संग्रहालयों में ही पाया जाता है।



13. छोटी सिंगी

यह सुषिर वर्ग का सबसे छोटा वाद्य है। यह श्रृंग या काष्ठ-नलिका से निर्मित होता है जो बेलनाकार होता है। इसके मुख भाग में एक छिद्र कर दिया जाता है। इस वाद्य की लम्बाई लगभग कनिष्ठा अंगुलि के बराबर



होती है अर्थात् छः सेंटीमीटर से ज्यादा नहीं होती है। ध्वनि उत्पादन के लिए इसके मुखरन्ध्र में जोर से फूँकना पड़ता है। यह वाद्य प्रमुख रूप से तान्त्रिकों एवं राजस्थान के भिखारियों द्वारा प्रयुक्त होता। वर्तमान में यह वाद्य यंत्र विलुप्त हो चुका है। [15]

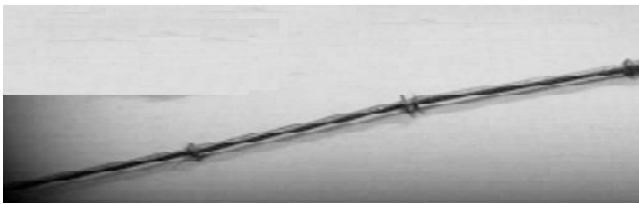
14. तुरही

“संस्कृत भाषा का ‘तूर्य’ शब्द ही कालान्तर से लोक में ‘तुरही’ शब्द से व्यवहृत होने लगा। यह वाद्य अंग्रेजी के ‘एस’ अक्षर के आकार का होता है, जो दो खण्डों में संयुक्त होता है। यह पीतल का बना होता है व इसे भी फूँक से बजाया जाता है। यह आठ-दस फुट लम्बा वाद्य यंत्र है, जिसका मुँह छोटा व आकृति नोकदार होती है। राजस्थान में यह वाद्य 109 सेमी. एवं 69 सेमी. लम्बा दो मापदण्डों का दृष्टिगोचर होता है।” [16] होंठ लगाकर फूँकने पर तीखी ध्वनि निकलती है। प्राचीनकाल में दुर्ग एवं युद्ध स्थलों में इसका वादन होता था। वर्तमान में यह वाद्य विलुप्त हो गया है।



15. भूंगल या भेरी

“यह सुषिर वाद्य पीतल या अलमुनियम धातु से निर्मित होता है। इसकी नली शंकू के आकार में नोकदार एवं लगभग तीन हाथ लंबी होती है। इसका मुख भाग कीप के आकार का होता है। यह वाद्य प्रमुख रूप से



राजस्थान प्रदेश के मेवाड़ क्षेत्र में रहने वाले भवाई जाति के लोगों द्वारा जनता को आकर्षित करने के उद्देश्य से खेल (तमाशा) दिखाने के पूर्व बजाया जाता है।” [17] इसे ‘भेरी’ भी कहते हैं। इसे रणक्षेत्र में भी

बजाया जाता था, उसी को ‘रणभेरी’ बजाना कहते हैं। यह वाद्य आज विलुप्त हो चुका है केवल संग्रहालय में ही पाया जाता है।

16. बर्गु

यह वाद्य पीतल धातु से निर्मित होता है। इसकी आकृति अंग्रेजी के ‘एस’ अक्षर की तरह होती है। यह वाद्य दो खण्डों से संयुक्त होता है। इसके एक खण्ड की नली बेलनाकार होती है। जिसका अन्तिम छोर लम्बे शंकुकार प्याला की आकृति में खुला होता है। मुखभाग उठा हुआ एवं वाद्य में ही संलग्न होता है। इस वाद्य की कुल लम्बाई लगभग 114 सेमी. होती है। इस वाद्य का वादन प्रमुख रूप से राजस्थान प्रदेश के सरगरी जाति के लोगों द्वारा किया जाता है। इस वाद्य से अत्यन्त मन्द ध्वनि उत्पन्न होती है। [18]

17. मुरला/मुरली

“यह वाद्य ‘बीन’ या ‘टरपु’ वाद्यों के समान आकृतिवाला होता है, यह लोकी द्वारा निर्मित होता है। जिसमें दो पतली नलिकाएँ संयुक्त रहती हैं। इनमें कगोर नामक लकड़ी की बनी हुई दो एकल पत्तियाँ लगी होती है, जिससे इस वाद्य के स्वर विस्तार में वृद्धि हो जाती है। एक नली से आधार-स्वर तथा दूसरी नली से धुन की निष्पत्ति होती है।



सामान्यतः यह वाद्य राजस्थान में प्रचलित सुरिन्दा नामक तन्त्री वाद्य की संगति में बजाया जाता है। मुरला वाद्य पश्चिमी राजस्थान के लंगा नामक जाति के लोगों द्वारा प्रयुक्त होता है।” [19] इस वाद्य यंत्र के तीन प्रकार होते हैं—

1. आगौर 2. मानसुरी 3. टांकी। छोटी व पतली तूंबी पर निर्मित टांकी मुरला या मुरली कहलाती है।

18. सनाई (शहनाई)

“यह एक मांगलिक वाद्य है। इसे विवाहोत्सव पर नगाड़े के साथ बजाया जाता है। चिलम की आकृति का यह वाद्य शीशम या सागवान की लकड़ी से निर्मित किया जाता है। इसके ऊपरी सिरे पर ताड़ के पत्ते की तूती लगाई जाती है। इसमें आठ छेद होते हैं तथा कुल लम्बाई लगभग 32 सेमी. होती है। फूँक देने पर इसमें से मधुर स्वर निकलते हैं।” माँगी बाई मेवाड़ की प्रसिद्ध सनाई वादिका और मांड गायिका है। यह मांगलिक अवसरों के साथ-साथ, कभी-कभी लोक नाट्यों के साथ भी बजाई जाती है। वर्तमान में यह वाद्य भी विलुप्त होने की कगार पर है।



19. तारपी

यह तूबे से बनाया जाने वाला फूँक वाद्य है जिसमें तूबे को उर्ध्व रखकर इसके मध्य के भाग में किए गए छेद में फूँक दी जाती है। तथा निचले भाग में लगी नली के छेदों से सुर साधे जाते हैं।

20. टोटो

यह वाद्य उपर्युक्त वर्णित 'तुती' वाद्य के लक्षणों से ही युक्त है। इसमें एक काष्ठ-नलिका होती है, जो बेलन के आकार की होती है। इस वाद्य का निचला छोर घंटी के आकार का होता है, जो नलिका से संयुक्त होता है। वाद्य की लम्बाई लगभग 30 सेमी. होती है। इसमें सात स्वररन्ध्र होते हैं। किसी-किसी वाद्य में काष्ठ-नलिका के निचली सतह पर एक अन्य स्वररन्ध्र भी रहता है, जिसे अंगुष्ठा अंगुली से मुद्रित किया जाता है। यह वाद्य राजस्थानी लोक संगत में प्रचलित है। [20]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि राजस्थानी लोक संगीत राजस्थानी संस्कृति की आत्मा है और लोक वाद्य राजस्थानी लोक संगीत का महत्वपूर्ण पक्ष है। लोक गीत, लोक नाट्य एवं लोकवाद्य राजस्थानी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रमुख अंग हैं। आदिकाल से आज तक इन कलाओं का विविध रूप में विकास होता आया है। इन कलाओं का पारस्परिक सम्बंध भी घनिष्ठ है। इन सभी का साथ-साथ प्रयोग रंगमंच या त्यौहारों पर समां बांध देता है। राजस्थानी लोक संगीत किसी न किसी लोक वाद्य से जुड़ा है। आज भी लोक संगीत में सुषिर वाद्यों ने अपना महत्व और अस्तित्व बनाये रखा है। लोक संगीत की मधुरता तथा सफलता बहुत सीमा तक सुषिर वाद्यों पर निर्भर करती है। लोक कलाकारों की आजीविका और जीवन यापन लोक संगीत और लोक वाद्यों पर ही निर्भर होता है। जैसे विवाह, त्यौहारों और पर्वों, विभिन्न पारिवारिक संयोजनों पर शहनाई, नगाड़े, मशक, नड, मयंक, बाँकिया, मोरचंग इत्यादि लोक वाद्य हैं जो राजस्थानी संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। विडम्बना की बात यह है कि आज ये वाद्य और वाद्य कलाकार विलुप्त होने की स्थिति में हैं। लोक संगीत के नाम पर इन कलाकारों और वाद्यों को कोई काम नहीं मिल पा रहा है। सरकार द्वारा भी इन्हें कोई कार्यक्रम नहीं दिया जा रहा है। इसी कारण आज ये लोक वाद्य धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं और कुछ लोक वाद्य केवल संग्रहालय तक ही सिमट कर रह गये हैं।

सन्दर्भ

1. पाण्डेय, रजनी, जयपुर की चित्रकला में संगीत वाद्य-यंत्र, पत्रिका प्रकाशन, जयपुर, पृ. 88
2. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, 1/2/3, आनन्द आश्रम संस्करण, 1953.
3. भार्गव, अंजना, भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिंतन, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ.106
4. op.cit रजनी पाण्डेय
5. शर्मा, अंजलिका, राजस्थान की वाद्य संगीत परम्परा, गौतम बुक कम्पनी, राजपार्क जयपुर, पृ. पुरोवाक
6. भरतमुनि, (नाट्यशास्त्र, 28वां अध्याय)
7. Rajasthanstudy.blogspot.com 2011/01
8. जौहरी, सीमा, भारतीय संगीत भाग-2, यूनिवर्सिटी बुक हाऊस प्रा. लि., जयपुर, पृ. 139
9. मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ लोदी रोड, नई दिल्ली, पृ. 372
10. वही, पृ. 372
11. वसन्त, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ.प्र., पृ. 578
12. Rajasthanstudy.blogspot.com 2014/03/blog.post.
13. www.ignca.nic.in/coilnet/tj095.
14. रईस खान, (मोरचंग वादक), लोक कलाकार, दूरभाष साक्षात्कार, 7 सितम्बर, 2017, सुबह 11:41 बजे।
15. बुन्दु खान, लोक संगीत कलाकार, दूरभाष साक्षात्कार, 23 अगस्त 2017, सांय 6.25 बजे।
16. जायसवाल, राधेश्याम, भारतीय संगीत के सुषिर वाद्यों का इतिहास, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 99
17. op.cit राधेश्याम जायवाल
18. op.cit राधेश्याम जायवाल
19. op.cit राधेश्याम जायवाल